भारतीय ज्ञान धरोहर

विमर्श और परंपरा

सम्पादक
डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

भारतीय ज्ञान धरोहर

विमर्श और परम्परा

सम्पादक

डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

Ph.D., D.Lit. (Sub.)

निदेशक, कॉम्पिटिशन प्लस ग्रुप ऑफ इन्स्टीट्यूशन,

अजमेर

छवि पब्लिकेशन्स

अजमेर-305001

प्रकाशक :
छवि पब्लिकेशन्स
अजमेर-305001
मो. 9660111549

संस्करण :
प्रथम 2023

ISBN : **978 - 81 - 89435 - 69 - 1**

मूल्य - 400/-

रचना - भारतीय ज्ञान धरोहर : विमर्श और परम्परा

सम्पादक - डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

मुद्रक - श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स, अजमेर

1

राजस्थान में रासो काव्य की ऐतिहासिक विवेचना

डॉ. रीता पारीक
प्राचार्य
हुकुमचन्द नोबेल इंस्टीट्यूट ऑफ साईंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

राजस्थान की साहित्यिक परम्परा अत्यंत प्राचीन, व्यापक और बहुरंगी है। इसी परम्परा को आलोकित करते हुए जिस काव्य-विधा ने विशिष्ट स्थान प्राप्त किया, उसका नाम है 'रासो'। भारतीय काव्य-धारा में अनेक काव्य-विधाएँ विकसित हुईं, परन्तु रासो-विधा अपनी रचनात्मक संरचना, ऐतिहासिक आधार, वीरभावप्रधानता तथा वर्णन-कौशल के कारण अद्वितीय मानी जाती है। रासो की प्रमुख विशेषता यह है कि यह किसी शासक, नायक, वीर, सामन्त अथवा प्रतिष्ठित व्यक्ति के चरित्र, शौर्य, प्रेम, नीति, युद्ध, संघर्ष और उसके समग्र व्यक्तित्व का काव्यात्मक आख्यान होता है। इसीलिए 'रासो' शब्द को प्राचीन ग्रन्थों में पुल्लिंग संज्ञा के रूप में स्वीकार किया गया है—एक ऐसी संज्ञा जो व्यक्ति विशेष के जीवन, यश और कृतित्व का काव्यात्मक रूप में गौरवगान करती है।

आधुनिक राजस्थानी भाषा में 'रासो' का अर्थ समय के साथ परिवर्तित हो गया और इसका प्रयोग उपद्रव, झंझट, कलह, कोलाहल और अव्यवस्था जैसे अर्थों में होने लगा। यह अर्थ-विकास जनभाषा की सहज प्रवृत्ति के अनुसार हुआ है, परन्तु साहित्यिक परम्परा में 'रासो' का यह अर्थ कभी प्रमुख नहीं रहा। साहित्य में 'रासो' सदैव गौरव, यश, वीरता और ऐतिहासिक चेतना का द्योतक रहा है।

ब्रजभाषा की परम्परा में भी 'रास' शब्द ने काव्य का एक विशिष्ट रूप धारण किया। वहाँ रास, रासलीला और रासक में प्रेम, माधुर्य तथा क्रीड़ा के भाव अधिक महत्त्वपूर्ण रहे, जबकि राजस्थान में 'रासो' का रूप पूरी तरह अलग दिशा में विकसित हुआ। यहाँ रासो काव्य नायक की ऐतिहासिक और वीर-केंद्रित कथा का एक विस्तृत आख्यान है जिसमें युद्धों का क्रम, पराक्रम का वर्णन, राज्य-परिस्थितियों का चित्रण, चरित्र-गौरव और राजपूत संस्कृति की सांस्कृतिक चेतना का प्रभाव पूर्ण रूप से दिखाई

देता है।

'रासो' शब्द की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों ने अनेक भिन्न-भिन्न मत प्रकट किए हैं। कुछ विद्वान रासो शब्द को 'रस' से व्युत्पन्न मानते हैं और यह व्याख्या करते हैं कि रासो वह काव्य है जिसमें नायक की वीरता, उत्साह, भावनाएँ और ऐतिहासिक घटनाएँ रसात्मक सौन्दर्य में परिवर्तित हो जाती हैं। कुछ अन्य विद्वान इसे 'रहस्य' से व्युत्पन्न स्वीकारते हैं और इस मत के अनुसार रासो मूलत: ऐसी काव्य प्रणाली है जिसमें राजवंशों, युद्धों, गुप्त योजनाओं और राजकार्य के रहस्यात्मक अंगों को काव्य के माध्यम से प्रकट किया गया।

पं. रामचन्द्र शुक्ल ने 'रासो' को 'रसायन' शब्द से सम्बद्ध करके इसकी व्याख्या की है। उनके अनुसार 'रासो' वह साहित्य है जो नायक के जीवन, यश और कृतित्व को इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि वह पाठक के मन में किसी रसायन की भाँति प्रभाव उत्पन्न करता है, उसकी चेतना को जागृत करता है और वीरभाव को प्रबल बनाता है। इसी क्रम में प्रतिष्ठित साहित्यकार विन्ध्येश्वरी प्रसाद दुबे ने 'रासो' को 'राजयश' का पर्याय माना है। उनकी दृष्टि में रासो वह काव्य है जो राजा या नायक के यश, सम्मान, मर्यादा और प्रतिष्ठा को अमर कर देता है। कुछ अन्य विद्वान इस शब्द को 'राजा देश' का अर्थ देते हुए यह मानते हैं कि रासो मूलत: ऐसे काव्य हैं जो किसी राज्य, प्रदेश या सत्ता-संस्था की गौरवगाथा हैं।

'रासो' शब्द की इस विविध व्याख्या से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजस्थान की काव्य-परम्परा में यह शब्द अत्यंत बहुआयामी है। इसमें केवल वीरता या प्रेम का ही वर्णन नहीं, बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और राजनीतिक आयामों का भी गहन समन्वय प्राप्त होता है। रासो का सम्बन्ध 'राजसौत' अर्थात् शासक-वंश या राजवंश से भी जोड़ा गया है, जहाँ रासो किसी वंश, किसी कुल या किसी सामन्त की गौरवगाथा का विधागत रूप बन जाता है।

रासो-विधा को अनेक बार 'रास' या 'रासक' के साथ समान माना गया है। किंतु इन सभी रूपों का स्वर भिन्न है। जहाँ रास और रासक का स्वर किसी लीलात्मक अथवा लघु-काव्यात्मक परम्परा से सम्बन्धित है, वहीं रासो एक विस्तृत, ऐतिहासिक और वीरप्रधान काव्य का स्वरूप है। रासो में यशोवर्णन प्रमुख होता है, किन्तु इसके साथ नायक के मनोभाव, युद्ध-क्षेत्र के दृश्य, किले और दुर्गों के वर्णन, मित्रता, वैर, नीति, धर्म और राज्यकार्य की परम्पराएँ भी अत्यन्त विस्तार से वर्णित मिलती हैं।

रासो-विधा का प्रभाव इतना व्यापक था कि जैन साहित्य में भी इसकी उपस्थिति मिलती है। जैन परम्परा के रासक और रास ग्रन्थ यह प्रमाणित करते हैं कि यह विधा

केवल राजपूत संस्कृति की उपज नहीं, बल्कि मध्ययुगीन भारतीय साहित्य की एक साझा धारा थी, जिसके विविध रूप विभिन्न भाषाओं में निर्मित होते रहे। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि रासो का दायरा केवल वीरगाथाओं तक सीमित नहीं, बल्कि यह सामाजिक इतिहास, सांस्कृतिक परिवेश और धार्मिक-सांस्कृतिक आंदोलन से भी गहराई से सम्बन्धित रहा।

समय के साथ 'रासो' शब्द का अर्थ निरन्तर परिवर्तित होता रहा। प्रारम्भ में यह केवल वीरकथा, यशगाथा और राजवंशीय गौरव का परिचायक था, परन्तु बाद में इसे लोक-श्रव्य परम्परा में प्रतिष्ठित कर दिया गया। इस परिवर्तन ने 'रासो' को केवल लिखित साहित्य न बनाकर गेय, वाचनीय और मंचनयोग्य काव्य का रूप दे दिया, जिसके कारण यह लोक-संस्कृति का एक जीवंत अंग बन गया।

माता प्रसाद गुप्त ने रासो को मूलतः छन्द-विविध्य प्रधान काव्य-विधा माना। उनके अनुसार रासो दो रूपों में विकसित हुआ—एक, ऐसा रास जिसमें अनेक छन्दों का तीव्र और निरन्तर परिवर्तन दिखाई देता है; दूसरा, वह रूप जिसमें केवल कुछ ही छन्द प्रयुक्त होते हैं और कथा अपेक्षाकृत स्थिर गति से आगे बढ़ती है। यह छन्द-विविधता रासो की प्रमुख पहचान बनी।

डॉ. धीरेन्द्र वर्मा ने भी 'रासो' की इसी छन्द-प्रधान विशेषता को स्वीकार किया और माना कि रासो-विधा किसी एक छन्द या लय पर आधारित नहीं, बल्कि उसका सौन्दर्य छन्दों के क्रमिक परिवर्तन, लयात्मकता और गेयता में निहित है। इस क्रम में चौपाई, प्रबन्ध, आख्यान, चरचरी और पवाड़े जैसे छन्द धीरे-धीरे रासो परम्परा के प्रमुख अंग बन गए।

समय बीतने के साथ चौपाई छन्द का प्रभाव इतना बढ़ा कि कई परवर्ती काव्य भी 'चौपाई' नाम से पहचाने जाने लगे। चरचरी जैसे छन्द, जो ताल और नृत्य के साथ गाए जाते थे, 17वीं शताब्दी में लोकभाषा में व्यापक रूप से रचने-बोलने में आने लगे और इन्हें 'ढ़ाल' कहा जाने लगा। इस प्रकार रासो काव्य न केवल साहित्य में, बल्कि लोक-गीत, नृत्य, वादन और सामाजिक समारोहों की परम्परा में भी गहराई से स्थापित हो गया।

'रासो' की ऐतिहासिक परम्परा लगभग दसवीं विक्रम शताब्दी से इक्कीसवीं विक्रम शताब्दी तक विस्तृत रूप में विकसित होती दिखाई देती है। विद्वानों ने जिन रचनाओं को इस परम्परा में स्थान दिया है, उनमें प्रारम्भ रिपुदारण रास से माना गया है। इसके साथ ही सुर्जन द्वारा रचित 'राम रासो', तथा अज्ञात कवियों द्वारा रचे गए 'रस रास' और 'विमल रास' भी इस परम्परा के विकास में महत्वपूर्ण कड़ियाँ सिद्ध

होते हैं। यह स्पष्ट है कि समय के साथ रासो काव्यधारा केवल मनोरंजन प्रधान नहीं रही, बल्कि इसमें चरित्र चित्रण, वीरगाथा, पौराणिक प्रसंग और धार्मिक भाव भी गहराई से जुड़े।

समय बीतने के साथ रासो साहित्य में अनेक धाराएँ उभरकर सामने आईं, जिनकी पहचान और वर्गीकरण करने में मोतीलाल मेनारिया और अगरचंद नाहटा का विशेष योगदान रहा। उनके अनुसार रासो साहित्य को कई रूपों में देखा जा सकता है—रोमांचक रास, पौराणिक रास, धार्मिक रास, विनोद प्रधान रास, व्यंग्यात्मक रास इत्यादि। यह वर्गीकरण बताता है कि रासो साहित्य एकरूप नहीं था, बल्कि विविध भाव भूमियों से पोषित होकर यह एक व्यापक परम्परा के रूप में विकसित हुआ।

इन सभी में 'ऐतिहासिक रास काव्य की परम्परा' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस धारा में वे रचनाएँ आती हैं जिनमें ऐतिहासिक सत्य, वीरता और चरित्र का समन्वय मिलता है। इस परम्परा की प्रमुख कृतियाँ हैं—पृथ्वीराज रासो, हम्मीर रासो, जैतसी रो रासो, प्रताप रासो, बीसलदेव रासो, पथेना रासो, परमाल रासो, सुजान सिंह रासो आदि। इन ग्रन्थों में केवल युद्ध और पराक्रम का वर्णन नहीं है, बल्कि राजाओं और वीरों के आदर्श, आचरण, नीति, धर्मनिष्ठा और लोकमानस में उनकी प्रतिष्ठा का भी प्रभावशाली निरूपण मिलता है।

इसी परम्परा में 'पृथ्वीराज रासो' का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण और विशिष्ट रहा है। इसके लेखक के रूप में चन्दबरदाई को लोक परम्परा ने सर्वसम्मति से स्वीकार किया है। यह रचना विद्वानों के मध्य सर्वाधिक चर्चित और साथ ही सर्वाधिक विवादित भी रही है, क्योंकि इसकी ऐतिहासिकता, रचना-काल और संरचना को लेकर अनेक मतभेद मिले हैं। परम्परा यह भी कहती है कि चन्द ने इसका आरम्भ किया तथा आगे चलकर उसके पुत्र 'जल्हण' ने इसे पूर्ण किया—यह कथन भी इसकी रचना-प्रक्रिया की दीर्घता और बहुस्तरीय स्वरूप का संकेत देता है।

यद्यपि अनेक विद्वानों ने 'पृथ्वीराज रासो' को इतिहास के रूप में अप्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयास किया, फिर भी राजस्थान की सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक परम्पराओं में इसका प्रभाव असंदिग्ध रूप से स्वीकार्य है। यह रचना न केवल पृथ्वीराज चौहान के व्यक्तित्व और पराक्रम का आख्यान है, बल्कि उस काल की संस्कृति, समाज-व्यवस्था, युद्ध-नीति, राजधर्म, स्त्री-सम्बन्धी दृष्टियों और वीर-श्रृंगार भावों का भी सशक्त दर्पण बनकर उभरती है। यदि चन्दबरदाई पृथ्वीराज के समकालीन न होते तो इस रचना में जो जीवन्तता, घटनाओं का सूक्ष्म विवरण, युद्धों का तात्कालिक चित्रण और व्यक्तित्व-केन्द्रित आख्यान मिलता है, वह सम्भव नहीं होता।

इस काव्य का कलात्मक पक्ष भी अत्यन्त विकसित है—यह भाषा के स्वाभाविक लालित्य, छन्द-विविधता, संवाद-प्रधान शैली और वीर-रस की तीव्रता को एक साथ समाहित करता है। चन्दवरदाई ने कथानक को केवल आख्यानात्मक न रखकर उसे एक नाटकीय और काव्यात्मक रूप दिया है, जिससे कथा जीवित और गतिशील दिखाई देती है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी 'पृथ्वीराज रासो' की इसी विशेषता को रेखांकित करते हुए इसे अत्यन्त महत्वपूर्ण कृति माना है। उन्होंने इसे केवल वीर-चरित्र का आख्यान न मानकर 'चरित्र-काव्य' और 'रासक-परम्परा' की एक सुदृढ़ कड़ी के रूप में स्वीकार किया है। उनके अनुसार यह रचना केवल इतिहास नहीं, बल्कि मध्यकालीन समाज और संस्कृति की मानसिकता का भी जीवंत दस्तावेज है।

'रासो' साहित्य राजस्थान की वीर-परम्परा, समाज, धर्म, इतिहास और चरित्र प्रधान कथाओं का विशाल भंडार है। इस परम्परा में दसवीं से इक्कीसवीं विक्रम शताब्दी तक अनगिनत रचनाएँ रची गईं, जिनमें पृथ्वीराज चौहान, हम्मीर, राव जोधा, राणा सांगा, महाराणा प्रताप, अमरसिंह, जसवंतसिंह सहित अनेक राजपूत वीरों, संत-चरित्रों, ऐतिहासिक प्रसंगों और युद्ध-कथाओं का काव्यात्मक वर्णन हुआ।

रासो कृतियाँ प्रायः वीरता, स्वाभिमान, यशगान, युद्ध-रस, लोकधर्म और राजनीतिक-सांस्कृतिक चेतना से ओतप्रोत हैं। इनमें चरित्रप्रधान आख्यान, पौराणिक भाव, धार्मिक आस्था, व्यंग्य तथा प्रकीर्ण प्रसंगों का भी समन्वय मिलता है।

इस परम्परा में पृथ्वीराज 'रासो', हम्मीर रासो, बीसलदेव रासो, प्रताप रासो, जैतसी रो 'रासो', राय रायवल रासो, राणा अमर सिंह रासो जैसी रचनाएँ अत्यंत महत्वपूर्ण मानी जाती हैं। इनके साथ अनेक स्थानीय वीरों, संतों, जननायकों तथा ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित रास भी रचे गए, जिनसे राजस्थान के लोक-साहित्य, भाषा-भाषिक रूपों, काव्य-शैली और सामाजिक जीवन का प्रामाणिक स्वरूप उभरता है।

डा. विजय कुलश्रेष्ठ ने 'रासो' साहित्य की परम्परा के अनुसंधान में अत्यन्त मूल्यवान योगदान दिया है। 'रासो' साहित्य के संदर्भ में इससे पूर्व केवल लगभग 225 रासो-ग्रन्थों की ही सूचना उपलब्ध थी, किन्तु डॉ. कुलश्रेष्ठ ने इस सीमित परिधि का विस्तार करते हुए पहली बार 673 रासो-ग्रन्थों की व्यापक सूची एकत्रित कर प्रस्तुत की। यह कार्य उनके गहन शोध, निरन्तर परिश्रम और विभिन्न स्रोतों के सूक्ष्म अध्ययन का परिणाम है। उन्होंने देश भर में फैले अनेक उपासरों, जैन बस्तियों, प्राचीन मंदिरों, निजी संग्रहालयों, हस्तलिखित पांडुलिपियों के भण्डारों तथा विभिन्न ग्रन्थालयों

से सामग्री संग्रहित कर रासो साहित्य की एक समृद्ध और विस्तृत आधार-सूची तैयार की।

रासो साहित्य की परम्परा को उनकी मान्यता के अनुसार व्यापक रूप से चार विभागों में रखा जा सकता है—

(1) जैन रास साहित्य, जिसमें जैनाचार्यों द्वारा रचित रासग्रन्थ सम्मिलित हैं;

(2) लौकिक अथवा सामान्य रास, जो समकालीन समाज, रीति-नीति, ऐतिहासिक प्रसंग और नायकों के चरित्र को केंद्र में रखते हैं;

(3) काव्यात्मक रास कृतियाँ, जिनमें रस, अलंकार और रचनाात्मक सौन्दर्य का विशेष स्थान है;

(4) जैनेत्तर रास रचनाएँ, जिनमें विभिन्न राजवंशों, वीर पात्रों, पौराणिक घटनाओं और सामाजिक प्रसंगों को रास शैली में चित्रित किया गया है।

'रासो' साहित्य का प्रमुख स्वर चारित्र्य-प्रधानता है। इसमें राजाओं, वीरों, ऐतिहासिक व्यक्तियों तथा धार्मिक नायकों के व्यक्तित्व, गुण, वीरता, धर्मनिष्ठा और सामाजिक आदर्शों का वर्णन मुख्य रूप से मिलता है। रास शैली का उद्देश्य केवल घटनाओं का वर्णन नहीं, बल्कि चरित्रों के नैतिक और सांस्कृतिक आदर्शों को उजागर करना भी रहा है।

इस क्षेत्र में अगरचंद नाहटा जैसे विद्वानों का योगदान भी अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। उनका शोध रासो साहित्य की विषयवस्तु, काव्य-शैली, ऐतिहासिक आधार और पांडुलिपि परम्परा को समझने में मौलिक स्त्रोत के रूप में स्वीकार किया जाता है। उनके कार्य से शोधार्थियों को रासो साहित्य के दायरे और इसकी विभिन्न शाखाओं पर अधिक संगठित दृष्टि प्राप्त हुई।

निष्कर्षत: रासो साहित्य राजस्थान की वह काव्य-परम्परा है जिसमें वीरों, शासकों और ऐतिहासिक नायकों के चरित्र, युद्ध और पराक्रम का गेय, छन्दोमुखी वर्णन मिलता है। इसकी उत्पत्ति प्राचीन काल से मानी जाती है और यह दसवीं से इक्कीसवीं विक्रम शताब्दी तक सतत विकसित हुआ। पृथ्वीराज रासो सहित अनेक रासो कृतियाँ इतिहास, संस्कृति और लोकभावना का दर्पण हैं। रासो में छन्द-विविधता, चौपाई, पवाड़े और लोकगीतों की परम्परा का विशेष विकास हुआ। डॉ. विजय कुलश्रेष्ठ ने 673 रासो ग्रन्थों का संकलन कर इसकी परम्परा को शोध के लिए सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया। समग्रत: रासो साहित्य राजस्थान की वीर-परम्परा, संस्कृति और ऐतिहासिक स्मृति का समृद्ध भण्डार है।